कहानी

बचपन

जितेन्द्र कुमार

गाँव की एक प्राथमिक शाला, जर्जर दीवारें और कबेलू की छत की इमारत के एक कमरे में कुछ बच्चे एक शिक्षक को घेरे बैठे हैं। शिक्षक का नाम है केशव, जो कक्षा-2 को पढ़ाते हैं व सबके प्यारे 'सर जी' हैं। बच्चे बड़े उत्साह और उत्सुकता से अपनी बातें सर जी को बता रहे हैं। और कोई तो सुनता नहीं! आखिर कहीं तो उनकी सुनवाई है। केशव भी उनकी वाक्पटुता से हैरान बड़ी दिलचस्पी से सबकी बातें सुनते हैं। संजय जो बाकी लड़कों से कद में थोड़ा ऊँचा निकलता है, कहने लगा, 'सर, हम रात को 12 बजे उठते हैं और गिल्ली-डण्डा खेलते हैं।'

केशव ने पूछा, 'किसके साथ?'

संजय ने अपनी अंगुली की चोट को देखते हुए कहा, 'एक उधर का आता है।'

केशव अपनी आँखें गोल करते हुए बोले, 'अच्छा!'

तभी बगल में खड़े प्रीतम ने शंका ज़ाहिर करते हुए कहा, 'सर, झूठ कह रिया है, रात के बारह बजे तो भयंकर डर लगेगा!'

लेकिन संजय समझाते हुए बोला, 'लाइट हैगी।'

परन्तु प्रीतम इतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ, 'लेकिन, सर, जब लाइट चली जाती तो इसको भयंकर डर लगेगा न?'

'हूँ, बात तो ठीक है,' प्रीतम से सहमत होते हुए केशव ने कहा।

'अच्छा, दोस्त के साथ बारह बजे गिल्ली-डण्डा खेलने जाते हो, तुम्हारी मम्मी मना नहीं करतीं?' केशव ने सवालिया अन्दाज़ में संजय से पूछा।

'उँ...हूँ,' संजय ने असहमति में गर्दन

हिला दी। इतना सफेद झूठ बोलकर संजय कैसे बच सकता था? दिनेश ने, जो अभी तक उनकी बातचीत सुन रहा था, दूध-का-दूध और पानी-का-पानी करने के लिए अपना ब्रह्मास्त्र चला दिया, 'खा जा हनुमान जी की कसम!'

'काहे खा जा?' संजय निहत्था-सा हो गया।

'झूठ बोल रहा है, झूठ बोल रहा है,' सभी बच्चे एक साथ चिल्ला दिए और निर्णय हो गया।

बचपन का झूठ के प्रति यह विद्रोह, जाने क्यों केशव को सहज ही लगा और खट से उसकी यादें उसे पन्द्रह साल पीछे ले गईं, जब वह उत्तर प्रदेश में हिण्डन नदी के किनारे बसे एक गाँव में रहता था। तब केशव कोई नौ या दस बरस का रहा होगा।

***

गर्मियों के दिन थे। नदी किनारे बाड़ी में खूब तरबूज़े, खरबूज़े, ककड़ी और खीरे लगे हुए थे। गर्मियों के दिनों में रसीले तरबूज़ खाने में जो तृप्ति मिलती है उसे बिना तरबूज़ खाए कोई कैसे जान सकता है? उस दिन केशव शाम को खेलकर घर लौटा तो पता चला कि आज घर में तरबूज़ आया था। उसके बड़े भाई ने आते ही उसे खबर दी, 'बाबा आज तरबूज़ लाए थे!' तरबूज़ का नाम सुनकर केशव की बाँछें खिल गई थीं, लेकिन 'लाए थे' सुनकर दिल शंका से बैठ भी गया। फिर भी बड़ी उम्मीद और विश्वास के साथ पहिया और डण्डा बरामदे में ही फेंककर वह माँ के पास रसोई में दौड़ गया।

'मेरा तरबूज़?' बिना साँस लिए ही उसने पूछा।

माँ अपराध-बोध-सा महसूस करते हुए सर्द आवाज़ में बोलीं, 'कल और ले देंगे।'

ये लोग ऐसा कैसे कर सकते हैं? मेरा ख्याल किसी को नहीं आया? सारे तरबूज़ खा गए। यह सब सुनकर केशव रुआँसा हो गया।

विरोध और दुख का प्रदर्शन शुरू हो गया। केशव ने रो-रोकर सारा घर सिर पर उठा लिया। सबसे ज़्यादा गुस्सा तो माँ पर ही आ रहा था। और किसी को नहीं तो कम-से-कम उसे तो मेरा ख्याल करना चाहिए था। सोच-सोच कर केशव की पीड़ा बढ़ती ही जा रही थी। न जाने आज उसे तरबूज़ इतना दुर्लभ क्यों लग रहा था। ऊपर से भाई ने आग में घी का काम कर दिया, 'बहुत मीठा था!'

केशव का रोना-धोना सुनकर सौ हीले-बहानों से उसे फुसलाकर चुप कराने के प्रयास किए गए। लेकिन उसे तो तरबूज़ के अलावा कुछ भी मंज़ूर नहीं था। खैर, उसका उपद्रव बन्द हुआ दादाजी के आश्वासन के बाद, 'कल जब खेत जाएँगे तो रास्ते में तरबूज़ खरीद देंगे।' उनके खेत हिण्डन नदी के खादर में थे। नदी पार करके जाना होता था और नदी किनारे बाड़ी थी।

अगले दिन सुबह-सुबह केशव खेत पर जाने के इरादे से बग्घी पर सवार होकर बैठ गया। उसके गाँव में बैलगाड़ियों का रिवाज़ तो उसकी पैदाइश से पहले ही खत्म हो गया था। उसकी बड़ी ताई की बारात इन्हीं बैलगाड़ियों में आई थी। अपने ब्याह के किस्से सुनाते हुए अक्सर ताई बताया करती थीं, 'मेरे ब्याह में अस्सी अरथ गए थे।' आजकल बग्घियों का रिवाज़ है। इन गाड़ियों में बैल नहीं भैंसे जोते जाते हैं।

दादाजी, पिताजी, भाई और केशव चारों बग्घी पर बैठ कर खेत की ओर चल दिए। केशव की आँखों में अभी भी तरबूज़ तैर रहा था। आज उसका अगर कोई प्रियतम था तो वो था तरबूज़। वे चले तो केशव को सिर्फ नदी के आने का इन्तज़ार था क्योंकि वहीं तो बाड़ी थी। नदी आई, उन्होंने उसे पार किया और फिर आई बाड़ी। केशव ने तपाक से दादाजी को रोका, 'बाबा, तरबूज़ा!' उसकी बात

सुनकर दादा और पिताजी हँस दिए। दादाजी बोले, 'यहाँ क्या पैसे धरे हैं?' इसका मतलब क्या दादाजी ने झूठ कहा था? मगर इस झूठ के आगे वह असहाय था। केशव जानता था कि दादाजी बिना पैसों के भी उसे तरबूज़ दिला सकते हैं। उनकी व्यंग्य हँसी से केशव का बालमन क्रोध से भर उठा। अब उसे यकीन हो गया था कि, 'मुझे तरबूज़ दिलाया नहीं जाएगा, वो मुझे खुद ही लेना होगा।'

केशव ने आव देखा न ताव और बग्घी से कूद गया और घर की ओर चल दिया। पीछे से पिताजी और दादाजी की आवाज़ें आ रही थीं। वे उसे वापस बुला रहे थे, डरा रहे थे, 'रास्ते में गीदड़ मिलेगा।'

केशव लगभग एक किलोमीटर से भी ज़्यादा दूरी का सफर पैदल तय करके घर पहुँचा। माँ को सारा किस्सा सुनाकर और उसकी मूक सहमति के साथ केशव ने एक थैले में अनाज भरा और वापस बाड़ी की ओर चल दिया। एक किलोमीटर का सफर तय करके वापस बाड़ी में पहुँचा।

जेठ के दिन थे। 10 बजते-बजते सूरज की गर्मी तेज़ होने लगी थी। केशव बाड़ी में बनी झोपड़ी की तरफ बढ़ चला जहाँ एक बूढ़ा अपने छप्पर की छाँव में बैठा चिलम पी रहा था। केशव को आता देख बूढ़े ने पूछा, 'क्या ले भाई?' केशव के थैले में अनाज था, एक सक्षम खरीददार की हैसियत से उसने सरल लेकिन निस्संकोच भाव से कहा, 'ताऊ, तरबूज़ लूँगा।' आखिर, अब कौन उसे तरबूज़

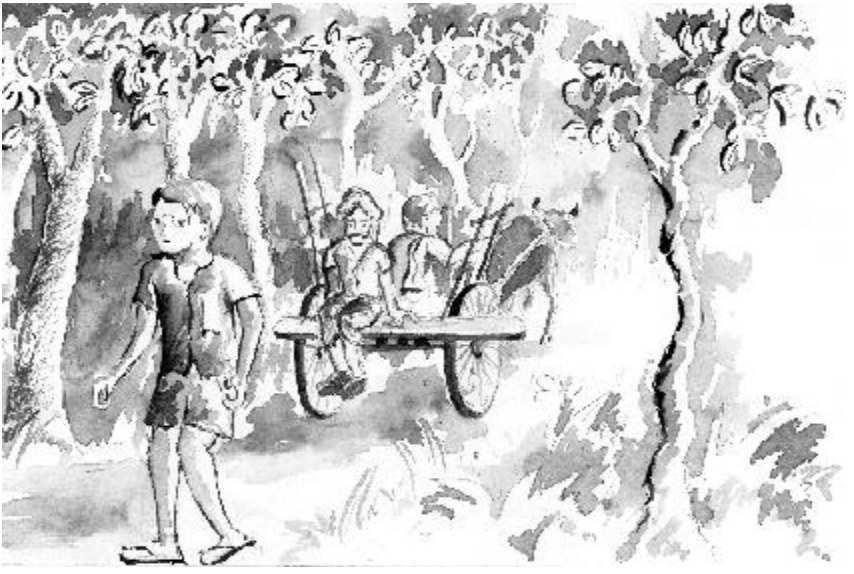

लेने से रोक सकता था। अब वो अनाज के बराबर तरबूज़ तुलवा लेगा।

'तरबूज़ तो है नी,' बूढ़ा चिलम से कश खींचते हुए एक ठण्डी-सी आवाज़ में बोला।

'तरबूज़ तो है नी,' इसका मतलब समझने के लिए केशव को ये बात मन में दोहरानी पड़ी। जब समझ में आई तो जैसे उसके ऊपर वज्र गिर पड़ा। वह रुआँसा हो गया। ऐसा भी हो सकता है, उसने सोचा न था। अब तो न वो किसी पर गुस्सा कर सकता था और न रो-धोकर तरबूज़ की माँग कर सकता था। एक विकट समस्या थी, सरासर अन्याय था। न तो सौदेबाज़ी की रुकावट थी, और न बूढ़ा उसके साथ ठिठोली कर रहा था। दादाजी तो थे नहीं, दुकानदार था। आखिर, ग्राहक को क्यों मना करता। नहीं है तो एकदम पैदा भी नहीं हो सकता था। मगर दादाजी कल शाम ही तो लाए थे और आज इतनी जल्दी खत्म कैसे हो सकते हैं? केशव असहाय-सा बूढ़े को देखते हुए सोच रहा था।

बूढ़ा थोड़ी देर रुककर कश पूरा करके बोला, 'थोड़ी देर पहले आ जात्ता तो मिल जात्ता, इभि हाल ताँगा भर के पीठ में ले गए।'

'फिर दादाजी की वजह से.....।'

'खरबूज़े हैं, लेणे हों तो?' बूढ़े ने केशव से पूछा।

भागते भूत का लँगोटा भला, केशव ने थैले का सारा अनाज बूढ़े को दे दिया। बूढ़े ने अनाज अपने नापने के एक बर्तन

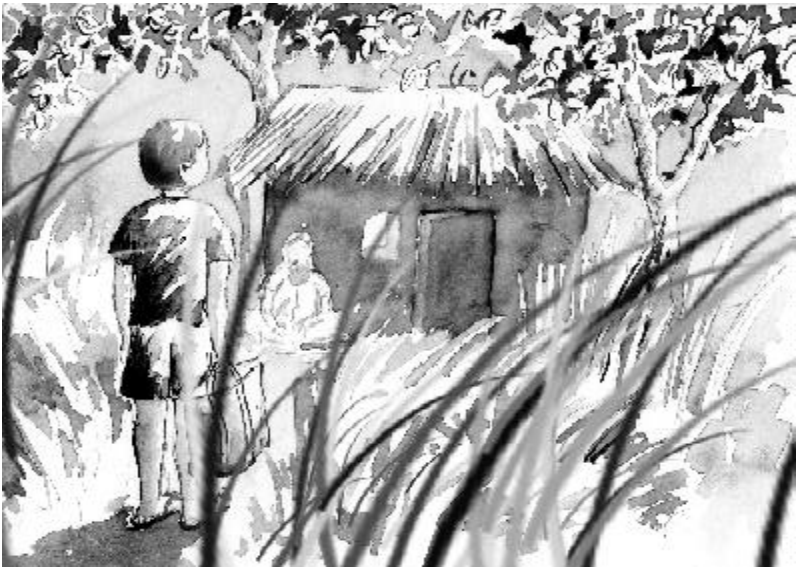

में डाल कर नाप-तोल की। फिर अपनी चिलम को पास रखे पानी के करवे के बगल में रखकर दोनों घुटनों पर हाथ टिका कर आहिस्ते से उठा। छप्पर से बाहर निकलकर वह सीधा बाड़ी में खरबूज़े तोड़ने चला गया और केशव अपने तरबूज़ के विकल्प का इन्तज़ार करने लगा।

थोड़ी देर बाद बूढ़ा छप्पर में घुसा। हाथ में चार खरबूज़े थे, तीन बड़े और एक छोटा। सारे खरबूज़े उसने केशव को दे दिए। इतने सारे! उसने कल्पना भी नहीं की थी। क्या वो इतना अनाज ले आया था? एक चिन्ता का भाव उसके मन में उठा। दादाजी को गेहूँ के बदले चीज़ें खरीदना बिलकुल पसन्द नहीं है। लेकिन दादाजी की अभी तो कोई चिन्ता नहीं की जा सकती। केशव ने खुश होते हुए चारों या साढ़े तीन खरबूज़े अपने थैले में डाले और घर की तरफ चल दिया।

घर पहुँचते ही केशव सीधा खरबूज़े खाने बैठ गया। उसे ऐसा करते देख माँ बोली, 'एक खा ले, बाकी रख दे। बाद में सबके साथ खाना।' ये कैसे हो सकता था? जिन्होंने उसके लिए तरबूज़ नहीं बचाकर रखा, न ही खरीदकर दिया, उनके लिए वह खरबूज़े बचाकर रखे? हरगिज़ नहीं।

केशव ने एक-एक करके तीन खरबूज़े खा लिए। माँ ने भी उसे दोबारा नहीं टोका। लेकिन चौथा खरबूज़ा खा पाना केशव के बस की बात न थी। अब मन और तन दोनों तृप्त हो चुके थे। इसलिए दया और करूणा भी पैदा हो गई थी। चौथा खरबूज़ा भाई के लिए रख दिया। 'इसे शिब्बू खा लेगा,' कहते हुए केशव ने खरबूज़ा माँ को दे दिया।

यह दिन के कोई 11 या 12 बजे की बात होगी। उसके बाद पूरा दिन कैसे बीता, केशव को आज भी सही याद नहीं पड़ता। बस याद है तो इतना कि वह उस रात अपने दादाजी की बगल में लेटा हुआ था

और इस कदर कमज़ोरी महसूस कर रहा था कि पिताजी उसे गोद में उठाकर घर ले गए थे। गाँव के डॉक्टर उसे देखने आए थे और उन्होंने केशव को मूँग की दाल की खिचड़ी और दही खिलाने की हिदायत दी थी। केशव को दवाई दी गई। दिन भर वह उल्टी और पेचिश से परेशान रहा था।

***

केशव यादों के जाल में ही उलझा था कि किसी ने उसका हाथ खींचते हुए कहा, 'सर, ये वाली कहानी सुना दो।' केशव अतीत से निकलकर वापस कक्षा में आ गया। अब सभी बच्चे मज़े से चूहे और गिलहरी की कहानी सुन रहे थे।

जितेन्द्र कुमार: एकलव्य के होशंगाबाद केन्द्र में शोधकार्य कर रहें हैं।
सभी चित्र: जितेन्द्र ठाकुर, एकलव्य, भोपाल में डिज़ाइन एवं प्रोडक्शन इकाई में कार्यरत।